७

आत्मा और कर्म

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कैसे होता है, इस सम्बन्ध में तीन प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं—पहला है नीर-क्षीरवत्। जैसे जल और दुग्ध परस्पर मिलकर एकमेक हो जाते हैं, वैसे ही कर्म पुद्गल के परमाणु आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं। दूसरा विचार है—अग्निलोहपिण्डवत्। जिस प्रकार लोह-पिण्ड को अग्नि में डाल देने से उसके कण-कण में अग्नि परिव्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणा के कर्म दलिक सम्बद्ध हो जाते हैं, संश्लिष्ट हो जाते हैं। तीसरा विचार है—सर्प-कंचुलीवत्। जिस प्रकार सर्प का उसकी कंचुली के साथ सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार आत्मा का भी कर्म के साथ सम्बन्ध होता है। यह तृतीय मान्यता जैन-परम्परा के ही एक विद्रोही विचारक सातवें निह्नव गोष्ठामाहिल की है। जैन-दर्शन में और कर्म-ग्रन्थों में इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया गया है। जीव और कर्म के सम्बन्ध को ठीक तरह समझने के लिए अग्नि-लोहपिण्ड का उदाहरण ही सर्वोत्तम उदाहरण है।

कर्म और उसका फल :

हम देखते हैं कि संसार में जितने भी जीव हैं, वे दो ही प्रकार के कर्म करते हैं—शुभ और अशुभ, अच्छा और बुरा। कर्म-शास्त्र के अनुसार शुभ-कर्म का फल अच्छा होता है और अशुभ-कर्म का फल बुरा होता है। आश्चर्य है कि सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर बुरे कर्म का दुःख रूप फल कोई जीव नहीं चाहता। संसार का प्रत्येक प्राणी सुख तो चाहता है, किन्तु दुःख कोई नहीं चाहता। अस्तु, यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब कर्म स्वयं जड़ है, वह चेतन नहीं है, तब वह फल कैसे दे सकता है? क्योंकि चेतन की बिना प्रेरणा के फल-प्रदान करना संभव नहीं हो सकता। और, यदि स्वयं कर्म-कर्ता चेतन ही उसका फल भोग लेता है, तो वह सुख तो भोग सकता है, परन्तु वह दुःख स्वयं कैसे भोगेगा? दुःख तो कोई भी नहीं चाहता। अतः कर्मवादी अन्य दार्शनिकों ने कर्म-फल का भोग कराने वाला ईश्वर माना है। परन्तु जैन-दार्शनिक इस प्रकार के ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। फिर, यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जैन-दर्शन में कर्म-फल-भोग की क्या व्यवस्था रहेगी? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि—प्राणी अपने अशुभ कर्म का फल नहीं चाहता, यह ठीक है, पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि चेतन-आत्मा के संसर्ग से अचेतन कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे कर्म अपने शुभाशुभ फल को नियत समय पर स्वयं ही प्रकट कर देता है। जैन-दर्शन यह नहीं मानता कि जड़ कर्म चेतन के संसर्ग के बिना भी फल देने में समर्थ है। चैतन्य से स्पृष्ट कर्म स्वयं ही अपना फल प्रदान करने का सामर्थ्य रखता है। प्राणी जैसे भी कर्म करते हैं, उनका फल उन्हें उन्हीं कर्मों द्वारा स्वतः मिल जाता है। जिस प्रकार जीभ पर मिर्च रखने के बाद उसकी तिक्तता का अनुभव स्वतः होता है, व्यक्ति के न चाहने से मिर्च का स्वाद नहीं आए, यह नहीं हो सकता। उस मिर्च के तीखेपन का अनुभव कराने के लिए किसी अन्य चेतन-आत्मा या परमात्मा की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यही बात कर्म-फल भोगने के विषय में भी समझ लेनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ और अशुभ कर्म :

जैन-दर्शन के अनुसार कर्म-वर्गणा के पुद्गल-परमाणु लोक में सर्वत्र भरे हैं। उनमें शुभत्व और अशुभत्व का भेद नहीं है, फिर कर्म पुदगल-परमाणुओं में शुभत्व एवं अशुभत्व का भेद कैसे पैदा हो जाता है? इसका उत्तर यह है—जीव अपने शुभ और अशुभ परिणामों के अनुसार कर्म-वर्गणा के दलिकों को शुभ एवं अशुभ में परिणत स्वरूप को ही ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव के परिणाम एवं विचार ही, कर्मों की शुभता एवं अशुभता के कारण हैं। इसका अर्थ यह है कि कर्म-पुद्गल स्वयं अपने आप में शुभ और अशुभ नहीं होता, बल्कि जीव का परिणाम ही उसे शुभ एवं अशुभ बनाता है। दूसरा कारण है, आश्रय का स्वभाव। कर्म के आश्रयभूत बद्ध संसारी जीव का भी यह वैभाविक स्वभाव है कि वह कर्मों को शुभ एवं अशुभ रूप में परिणत करके ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार कर्मों में भी कुछ ऐसी योग्यता रहती है कि वे शुभ एवं अशुभ परिणाम-सहित जीव द्वारा ग्रहण किए जाकर ही, शुभ एवं अशुभ रूप में परिणत होते रहते हैं, बदलते रहते हैं एवं परिवर्तित होते रहते हैं। पुद्गल की शुभ से अशुभ रूप में और अशुभ से शुभ रूप में परिणति का क्रम सदा चलता रहता है।

प्रकृति, स्थिति और अनुभाग की विचित्रता तथा प्रदेशों के अल्प-बहुत्व का भी भेद जीव कर्म-ग्रहण के समय ही करता है। इस तथ्य को समझने के लिए आहार का एक दृष्टान्त यहाँ उपस्थित है। सर्प और गाय को प्रायः एक जैसा ही भोजन एवं आहार दिया जाए, किन्तु उन दोनों की परिणति विभिन्न प्रकार की होती है। कल्पना कीजिए, सर्प और गाय को एक साथ और एक जैसा दूध पीने के लिए दिया गया, वह दूध सर्प के शरीर में विष रूप में परिणत हो जाता है और गाय के शरीर में दूध, दूध रूप में ही परिणत होता है। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न का समाधान स्वतः स्पष्ट है कि आहार का यह स्वभाव है कि वह अपने आश्रय के अनुसार ही परिणत होता है। एक ही समय पड़ी वर्षा की बूँदों का आश्रय के भेद से, भिन्न-भिन्न परिणाम देखा जाता है। जैसे कि स्वाति नक्षत्र में गिरी बूँदें सीप के मुख में जाकर मोती बन जाती हैं और सर्प के मुख में विष। यह तो हुई भिन्न-भिन्न शरीरों में आहार की विचित्रता की बात, किन्तु एक शरीर में भी एक जैसे आहार के द्वारा प्राप्त भिन्न-भिन्न परिणामों की विचित्रता देखी जा सकती है। शरीर द्वारा ग्रहण किया हुआ एक ही आहार अस्थि, मज्जा, रक्त, वीर्य एवं मल-मूत्र आदि के अच्छे-बुरे विविध रूपों में परिणत होता रहता है। इसी प्रकार कर्म भी जीव के शुभाशुभ भावानुरूप ग्रहण किए जाने पर शुभ एवं अशुभ रूप में परिणत होते रहते हैं। एक ही कार्माण पुद्गल-वर्गणा में विभिन्नता का हो जाना सिद्धान्त बाधित नहीं कहा जा सकता।

जीव का कर्म से अनादि सम्बन्ध :

आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। फिर यहाँ प्रश्न यह उठता है—चेतन-आत्मा का जड़-कर्म के साथ सम्बन्ध कब से है? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है—कर्म-सन्तति का आत्मा के साथ अनादि-काल से संबंध है। यह नहीं बताया जा सकता कि जीव से कर्म का सर्व-प्रथम संबंध कब और कैसे हुआ? शास्त्र में कहा गया है कि जीव सदा क्रियाशील रहता है। वह प्रतिक्षण मन, वचन और काय से एकताबद्ध हो विभिन्न व्यापारों में प्रवृत्त रहता है। अतः वह हर समय कर्म-बंध करता ही रहता है। इस प्रकार किसी अमुक कर्म विशेष की दृष्टि से आत्मा के साथ कर्म का संबंध सादि ही कहा जा सकता है। परन्तु, कर्म-सन्तति के सतत प्रवाह की अपेक्षा से जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि-काल से चला आ रहा है। प्रतिक्षण पुराने कर्म क्षय होते रहते हैं और नये कर्म बंधते रहते हैं।

यदि कर्म-सन्तति को किसी एक दिन प्रारम्भ होनेवाली सादि मान लिया जाए, तो फिर जीव कर्म सम्बन्ध से पूर्व सिद्ध, बुद्ध, मुक्त दशा में रहा है। यदि शुद्ध और मुक्त रहा है, तो फिर वह कर्म से लिप्त कैसे हो गया? यदि अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित जीव भी कर्म से लिप्त हो सकता है, तो सिद्ध और मुक्त आत्मा भी पुनः कर्म से लिप्त क्यों नहीं हो जाती?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार संसार और मोक्ष का कोई महत्त्व न रहेगा, कोई व्यवस्था न रहेगी। इसके अतिरिक्त कर्म-सन्तति को सादि मानने वालों को भी यह बताना होगा, कि कब से कर्म आत्मा के साथ लगे और क्यों लगे? इस प्रकार किसी प्रकार का समाधान नहीं किया जा सकता। इन सब तर्कों से यही सिद्ध होता है कि आत्मा के साथ कर्म का अनादि-काल से संबंध है।

कर्म-बन्ध के कारण :

यदि यह मान लिया जाए कि जीव के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है। परन्तु, फिर इस तथ्य को स्वीकार करने पर यह प्रश्न सामने आता है, यह बन्ध किन कारणों से होता है? उक्त प्रश्न के समाधान में कर्म-ग्रन्थों में दो अभिमत उपलब्ध होते हैं—पहला, कर्म-बन्ध के पाँच कारण मानता है—१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय और ५. योग। दूसरा, कर्म-बन्ध के कारण केवल दो मानता है—कषाय और योग। यहाँ पर यह समझ लेना चाहिए कि कषाय में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः संक्षेप की दृष्टि से कर्म-बंध के हेतु दो और विस्तार की अपेक्षा से कर्म-बन्ध के हेतु पाँच हैं। दोनों अभिमतों में कोई मौलिक भेद नहीं है।

कर्म-ग्रन्थों में बन्ध के चार भेद बताए गए हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।[1] इनमें से प्रकृति—कर्म का अपना फल प्रदान रूप स्वभाव और प्रदेश—कर्म-पुद्गलों का दल, इनका बन्ध योग से होता है तथा कर्म की स्थिति और उसका तीव्र-मन्द आदि अनुभाग—रस, का बन्ध कषाय से होता है। जिस प्रकार मकड़ी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने बनाए हुए जाले में फंस जाती है, उसी प्रकार यह जीव भी अपनी राग-द्वेष—कषाय रूपी प्रवृत्ति से अपने आपको कर्म-पुद्गल के जाल में फंसा लेता है। कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति अपने शरीर में तेल लगाकर यदि धूलि में, मिट्टी में लेट जाए, तो वह धूलि-मिट्टी उसके शरीर पर चिपक जाती है। अतः जिस प्रकार से वह धूलि उसके शरीर में चिपक जाती है, ठीक इसी प्रकार जीव भी अपने स्निग्ध परिणामों के योग से कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है और राग-द्वेष रूप कषाय-भाव के कारण उन कर्म-दलिकों का आत्म-प्रदेशों के साथ अमुक काल तक संश्लेष हो जाता है। वस्तुतः यही बन्ध है। जैन-दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में माया, अविद्या, अज्ञान और वासना को कर्म-बन्ध का कारण माना गया है। शब्द-भेद और प्रक्रिया-भेद होने पर भी मूल भावनाओं में मौलिक भेद नहीं है। न्याय एवं वैशेषिक-दर्शन में मिथ्या-ज्ञान को, योग-दर्शन में प्रकृति और पुरुष के संयोग को, वेदान्त में अविद्या एवं अज्ञान को तथा बौद्ध-दर्शन में वासना को कर्म-बन्ध का कारण माना गया है।

कर्म-बन्ध से मुक्ति के साधन :

भारतीय-दर्शन में जिस प्रकार कर्म-बन्ध और कर्म-बन्ध के कारण माने गए हैं, उसी प्रकार उस कर्म-बन्ध से मुक्ति-प्राप्ति के साधन भी बताए गए हैं। मुक्ति, मोक्ष और निर्वाण प्रायः समान अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। बन्धन से विपरीत दशा को ही मुक्ति एवं मोक्ष कहा जाता है। यह सत्य है, जीव के साथ कर्म का प्रतिक्षण नया-नया बन्ध होता है। एक ओर पुरातन कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग होते जाते हैं, और दूसरी ओर नये कर्म प्रतिक्षण बंधते रहते हैं। परन्तु, इसका फलितार्थ यह नहीं निकाल लेना चाहिए कि आत्मा कभी कर्मों से मुक्त होगा ही नहीं। जैसे स्वर्ण और मिट्टी परस्पर मिल कर एकमेक हो जाते हैं, किन्तु ताप आदि की प्रक्रिया के द्वारा जिस प्रकार मिट्टी को अलग कर के शुद्ध स्वर्ण को अलग कर लिया जाता है, उसी प्रकार अध्यात्म-साधना से आत्मा कर्म एवं कर्म-फल से छूट कर शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो सकता है। यदि आत्मा एक बार कर्म-विमुक्त हो जाता

---

१. स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभावो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दल-संचयः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, तो फिर कभी वह कर्म-बद्ध नहीं होता। क्योंकि कर्म-बन्ध के कारणभूत राग-द्वेष रूप साधनों का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे बीज के सर्वथा जल जाने पर, उससे फिर अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही कर्मरूपी बीज के जल जाने पर, उससे संसार-रूप अंकुर उत्पन्न नहीं हो पाता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि, जो आत्मा एक दिन बद्ध हो सकती है, वह आत्मा एक दिन कर्मों से विमुक्त भी हो सकती है।

प्रश्न होता है—"कर्म-बन्धन से मुक्ति का उपाय क्या है?" उक्त प्रश्न के समाधान में जैन-दर्शन मोक्ष एवं मुक्ति के तीन साधन एवं उपाय बताता है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र। कहीं पर यह भी कहा गया है—"**ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः**" अर्थात् ज्ञान और क्रिया से मोक्ष की उपलब्धि होती है। ज्ञान और क्रिया को मोक्ष का हेतु मानने का यह अर्थ नहीं है कि यहाँ सम्यक्-दर्शन को मानने से इन्कार कर दिया। जैन-दर्शन के अनुसार जहाँ पर सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र होता है, वहाँ पर सम्यक्-दर्शन अवश्य ही होता है। आगमों में दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ तप को भी मोक्ष-प्राप्ति में कारण माना गया है। इस अपेक्षा से जैन-दर्शन में मोक्ष के हेतु चार भी सिद्ध होते हैं। परन्तु गंभीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है, कि वास्तव में मोक्ष के हेतु तीन ही हैं—१. सम्यक्-तत्त्व-श्रद्धान, २. सम्यक्-तत्त्व-ज्ञान और ३. सम्यक्-वीतराग-आचरण। बद्ध कर्मों से मुक्त होने हेतु साधक संवर की साधना से नवीन कर्मों के आगमन को रोक देता है और निर्जरा की साधना से पूर्व संचित कर्मों को धीरे-धीरे नष्ट कर देता है। इस प्रकार साधक कर्म-बन्ध से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

वस्तुस्थिति यह है कि कर्मों के शुभ-अशुभ फलों के उपभोग-काल में साधारण व्यक्ति शुभ-फल में राग और अशुभ-फल में द्वेष करने लगता है, तो भविष्य के लिए फिर नये कर्म बान्ध लेता है। यदि साधक भोग-काल में राग-द्वेष से परे होकर तटस्थ हो जाए, तो फिर नये कर्मों का बंध नहीं होता। नये-पुराने सभी कर्मों से मुक्त होने के लिए वीतराग-भावना प्रमुख हेतु है। वीतराग-भावना नये कर्म-बन्ध को रोकने के रूप में संवर का काम करती है, पुरातन बद्ध-कर्मों को क्षय करने के रूप में निर्जरा का भी काम करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org